स्कूली दिनों की दोस्तियाँ

ज्ञान चतुर्वेदी

स्कूल के दिनों में जो दोस्तियाँ बनती हैं उनकी तो बात ही कुछ और होती है। आज मैं सत्तावन साल की उम्र में दोस्ती के विषय में सोचने बैठता हूँ तो दोस्ती के नाम पर हरदम स्कूल के दोस्त ही याद आते हैं। स्कूल के बाद, मेडिकल कॉलेज में पढ़ते हुए और बाद के जीवन में भी दोस्त तो बने लेकिन उन दोस्तियों की तुलना मैं अपने स्कूली दोस्तों से करने की सोच भी नहीं पाता। स्कूली दिनों के दोस्तों से बिछुड़कर भी हम कभी नहीं बिछुड़ पाते। इनमें से कुछ दोस्तों से कभी भी सम्पर्क हो जाता है। कई के बारे में कहीं और से पता चलता है तो जी जुड़ा जाता है। मुझे नाम भूलने की बीमारी-सी है परन्तु मैं अपने इन दोस्तों के नाम कभी नहीं भूला। चेहरे याद हैं सबके। जब कभी इनकी याद मन में उठती है तो वह पल दमक जाता है।

ऐसे ही मेरे एक मित्र होते थे राधागोविन्द बुधौलिया। भांडेर में मेरी कक्षा में ही थे। मेरे स्वभाव से एकदम उलट था उसका स्वभाव। मैं बड़ा धीर-गम्भीर, गुरुजी के डर से काँपने वाला, पढ़ाकू, खेलकूद में लगभग फिसड्डी और चुपचुप रहने वाला लड़का होता था। दुबला-पतला इतना कि मेरी नाप का रेडीमेड हाफपैंट मिल ही नहीं पाता था। इधर, मेरे पिताजी जो वहाँ के सरकारी अस्पताल में डॉक्टर थे, को ऐसे पैंट लाने का बड़ा शौक था। मैं उन्हें किसी तरह कमर से लटकाए घूमता रहता। जबकि राधागोविन्द मुझसे एकदम अलग था। पढ़ने में वह भी अच्छा था पर पढ़ने में उसे बहुत मज़ा नहीं आता था। वह बहुत पढ़ने के खिलाफ टाइप था। मुझे कहा करता कि पढ़ने से क्या होता है ज्ञानू? चलो चलकर क्रिकेट खेलते हैं। छोटा-सा एक मैदान था जहाँ हम बढ़ई के बने बैट और रबर की गेंद से अपने ही बनाए नियमों पर क्रिकेट खेला करते थे। छक्के की बाउंड्री इतनी पास होती थी कि वह लगता ही था। राधागोविन्द तो लगाता ही था। वह अच्छा स्वस्थ और सुन्दर लड़का था। उसे पता था कि मैं लिखता हूँ। मैं सातवीं कक्षा में ही कहानी, कविताएँ लिखने लगा था। उसे आश्चर्य होता। कहता कि तू यह लिख कैसे लेता है? उसे कविता-फविता में बहुत रुचि नहीं थी परन्तु वह दिल ही दिल में गर्व महसूस करता कि उसका एक दोस्त कविता लिख लेता है। वैसे तो उसे कविता आदि से ऐसी चिढ़ थी कि वह कविता पढ़ाने वाले हिन्दी के अध्यापक की साइकिल की हवा निकालना अपने जीवन का नैतिक कर्तव्य-सा मानता था। वह हैडमास्टर तक से नहीं डरता था – यह देखकर मैं उस पर गर्व करता था। मुझे लगता कि जो शख्स हेडमास्टर से भी न डरे उससे ज़्यादा साहसी इस धरती पर और कौन हो सकता है? वह इन्टरवल में ही स्कूल से गायब हो जाता। खेल के मैदान में पीटी टीचर को बैडमिंटन में हरा देता। सुबह की प्रार्थना के समय कुत्ते की आवाज़ें इस सफाई से निकालता कि हैडमास्टर को समझ ही न आता कि ऐसा कौन कर रहा है। वह सातवीं कक्षा में था और एक लड़की के प्यार में पड़ गया था जो तब आठवीं में पढ़ती थी। वह मुझे बताता था कि मुझे इस लड़की से प्यार हो गया है। लड़कियों के प्रति एक अजीब-सा आकर्षण तब मुझे भी महसूस होता था परन्तु यह बात यूँ साफ-साफ कहने की हिम्मत मेरे में नहीं थी। राधागोविन्द में थी। उसने यही बात शायद उस लड़की से भी कह दी थी या पत्र में लिखकर दी थी। उस लड़की ने अपने पिताजी को बता दिया तो वे राधागोविन्द के पिताजी को बताने पहुँच गए। पिताजी ने खूब पीटा उसे। उन दिनों पिताओं के बीच बेटे को पीटने का रिवाज़-सा था। वे कहते थे कि इससे बच्चा अच्छा आदमी बनेगा। राधागोविन्द पिट-पिटा के सीधे मेरे पास आया और कहने लगा कि मैं अभी भी उससे सच्चा प्यार करता हूँ और करता ही रहूँगा।

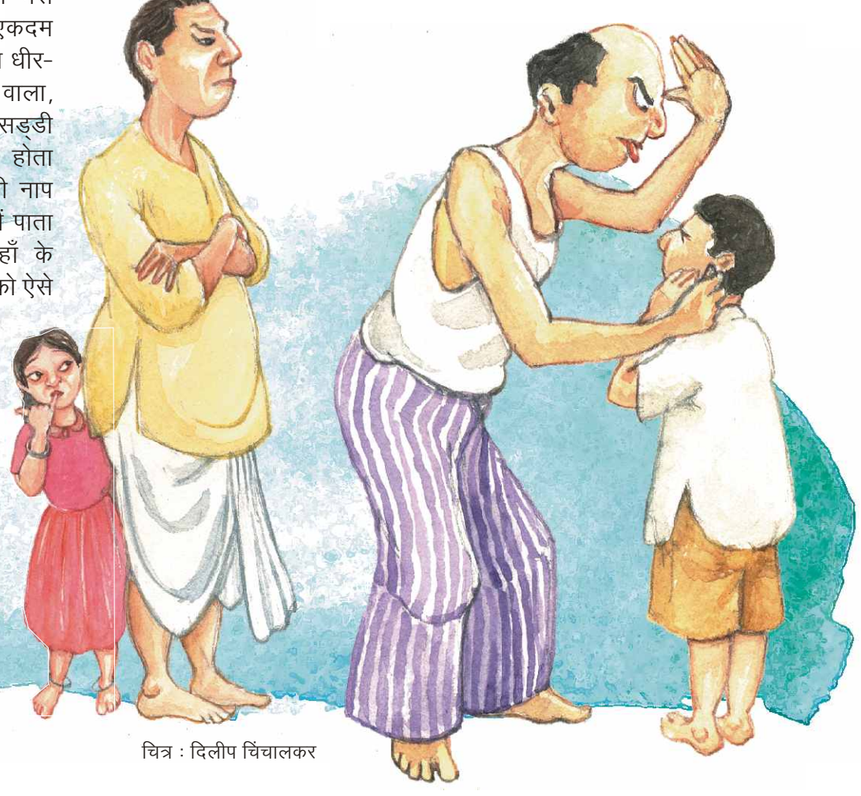

चित्र : दिलीप चिंचालकर

हम रोज़ सुबह-शाम साथ गुज़ारते थे। उन दिनों राधागोविन्द मेरे जीवन का ऐसा अहम हिस्सा था कि उसके बिना भी कभी रहूँगा, यह सोचता ही नहीं था। ज़माने भर की बातें करते थे हम। तब साफ नहीं था कि बड़े होकर हम क्या बनना चाहते हैं? हम सपने देखते। मैं कहता कि मैं बड़ा होकर हवाई जहाज़ चलाऊँगा और वह कहता कि बड़ा होकर वह बहुत बड़ा आदमी बनेगा। और बड़ा आदमी बनकर सबसे पहले हैडमास्टर को ठोंकेगा जो पिताजी से उल्टी-सीधी शिकायतें भिड़ाता रहता है। मासूम से प्लान और सपने। पर तब ऐसे ही सपने देखने में मज़ा आता था। हम सरकारी मकान की छत पर रामलीला खेलते थे। मैं दुबला-पतला होने पर भी हनुमान ही बनता और छत से आँगन में कूदता। माँ डाँटती कि राधागोविन्द की हड्डियाँ तो मज़बूत हैं परन्तु तेरी दुबली-पतली हड्डी चटख जाएगी। हम गाँव के पास बने जंगल में घूमते। बेर चुनते। पेड़ों पर चढ़ते। गिल्ली-डण्डा खेलते। अगले दिन मिलने का वायदा करके ही रात में घर वापस लौटते। लौटते हुए भी एक-दूसरे को आवाज़ें देते जाते और बाकी रह गई बातें करते जाते।

कि अचानक मेरे पिताजी का ट्रान्सफर भांडेर से अकोदिया मण्डी हो गया। खाकी रंग का एक सरकारी लिफाफा लेकर पापा अन्दर आए और माँ को बताया कि दुश्मनों ने मेरा ट्रान्सफर करवा ही दिया। मैं खूब रोया। स्कूल के साथियों से बिछुड़ने का दुख और नए स्कूल के नए माहौल में अपनी जगह बनाने का डर तो था ही, राधागोविन्द से बिछुड़ने का कष्ट भी इतना था कि रह-रहकर मेरी आँखें भर आती थीं।

राधागोविन्द के पिता राजनीतिज्ञ थे। उसने बड़े अफसरों आदि को जाने पर दी जाने वाली पार्टियों में विदाईपत्र देते हुए देखा था। सो उसने मेरे लिए भी एक मानपत्र और विदाई पत्र तैयार किया – बकायदा एक टाइप किया हुआ मानपत्र मढ़वाकर मुझे दिया। वह मानपत्र बहुत सालों तक मेरे साथ रहा। फिर पिताजी के ट्रान्सफर में कहीं गुम-गुमा गया। वायदे भी हुए थे कि पत्र डाला करेंगे। फोन उन दिनों उस तरह था नहीं जैसे कि आज सहज उपलब्ध है। वैसे कुछ भावुक से पत्र डाले और आए भी। फिर सब छूटता गया। हम फिर कभी मिले नहीं। सालों गुज़र गए। पर दिल में कहीं एक कोना राधागोविन्द और भांडेर के दोस्तों का आबाद रहा...

अभी पाँच साल पहले एक दिन, मेरे अस्पताल में एक अधेड़-सा आदमी आकर ठीक मेरे सामने बैठ गया। मैंने पूछा कि बताइए क्या तकलीफ है? मरीज़ से पूछते ही हैं। वह कुछ न बोला। बस मुस्कराकर मुझे घूरता रहा। फिर बोला, "पहिचाने हमें?" मेरी याददाश्त इस मामले में वैसे ही बेहद कमज़ोर है। लोग याद ही नहीं रहते। नाम भूल जाता हूँ। चेहरे कुछ-कुछ याद रहते हैं। लोग बुरा मान जाते हैं। रिश्तेदार तथा जान-पहचान वाले बाद में शिकायत भी करते हैं कि डॉक्टर बनकर हमें भूल गया है। पर क्या करूँ कि मैं भूल ही जाता हूँ। पर इस आदत के उलट एक चमत्कार-सा हुआ उस दिन। जैसे ही उसने कहा "पहिचाने हमें?" तो एक बिजली-सी कौंध गई मन में। मैंने पहचान लिया। कहा, "तुम राधागोविन्द हो न?" हम गले मिल गए। मानो चालीस साल पहले के भांडेर में पहुँच गए थे हम। वही राधागोविन्द। वही ज्ञानू! वहीं हथेलियाँ। वही गर्मी। वही दोस्ती। वही प्यार। ..... मज़ा आ गया। ठण्डी हवा-सी बहने लगी। लगा जैसे मैं किसी खूबसूरत झील के किनारे खड़ा हूँ ... चकमक